

पंचायती राज व्यवस्था का ऐतिहासिक विकास

शोध निर्देशक

डॉ. कृष्ण देव सिंह

एसोसिएट प्रोफेसर (रिटायर्ड)

राजनीति विज्ञान विभाग

शोधकर्त्री

किरन यादव

एम0ए0 राजनीति विज्ञान

पंचायत मानव समाज की आदि संस्था है। वैदिक मंत्रों में ग्रामों की समृद्धि की कामना बहुत की गयी है, नगरों की नहीं इसका मुख्य कारण यही था कि तत्कालीन समाज में प्रायः कृषकों व चरवाहों की बहुलता थी। इस कारण उनका स्वाभाविक जुड़ाव ग्रामीण संस्कृति की ओर था, न कि नागर संस्कृति के। कुल, गण, जाति, युग, वृत, श्रेणी, संघ, समुदाय, समूह, परिषद, चरण आदि संज्ञायें इसके लिए प्रयुक्त की गयी हैं।

प्राचीन भारत :

वाल्मीकि रामायण में दो प्रकार के गांवों का उल्लेख है घोष और ग्राम। ग्राम स्तर पर सभा समिति एवं गण को भारी शक्ति एवं प्रभाव प्राप्त था। राजनीतिक व सामाजिक जीवन में समन्वय का प्रभावशाली माध्यम पंचायतों के रूप में देखा जा सकता है। प्रो० अल्लेकर का कहना है कि प्राचीन काल से ही भारतीय गांव प्रशासन की धुरी रहे हैं।

वैदिक साहित्य में प्रतिबिम्बित भारत में स्थानीय व्यवस्था :

वैदिक काल के लोगों के जीवन के बारे में विस्तार से जानने के लिये इस युग को दो भागों में बांटते हैं— ऋग्वैदिक काल तथा उत्तर वैदिक काल।

ऋग्वैदिक काल :

लोगों का जीवन कबायली था। जनजीवन के वातावरण में युद्धों, आक्रमणों एवं जनसंहार का बोलबाला था।

कृषि नहीं वरन् पशुचारण लोगों के भौतिक जीवन का आधार था। इस कारण भी निवास में स्थायित्व नहीं था। पशु सम्पत्ति के मुख्य अंग थे अतः पशुओं के लिये युद्ध भी होते थे।

मंत्रों में देवताओं की स्तुति करते हुये पशु सम्पदा की कामना की गई है। कृषि का धंधा नगण्य—सा था। ऋग्वेद कुल 10462 श्लोकों में से केवल 27 में ही कृषि का उल्लेख है। परवर्ती काल के मंडलों में सिंचाई से सम्बन्धित उल्लेख मिलते हैं। पशुचारण की संस्कृति की प्रधानता ने पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना के निर्माण में सहायता दी।

ऋग्वैदिक काल का 'राजन' एक कबायली मुखिए से अधिक कुछ न था और एक पुरोहित एवं रणयोद्धा के काम करता था। कुल शब्द का उल्लेख नहीं है, किन्तु कबायली व सामूहिक जीवन इंगित करने वाले जन एवं विश शब्दों का प्रयोग सैकड़ों बार हुआ है। जनपद, राष्ट्र, राज्य आदि क्षेत्रीयता को इंगित करने वाले शब्दों का उल्लेख कम ही मिलता है। सभा, समिति एवं विरद जैसी संस्थाओं से व्यवस्था चलती थी। समिति का उल्लेख केवल परवर्ती मण्डलों में हुआ है। सभा का वर्णन मूल भाग में भी मिलता है। इस संस्थानों में सम्पूर्ण कबीलें के सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक मामलों पर चर्चा होती है।

उत्तर वैदिक काल :

लौह युग के आरम्भ के साथ कृषि का तीव्रतर विकास हुआ, अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान हो गई। कबायली संरचना में दरार पड़ा और अनेक छोट-छोटे कबीले एक-दूसरे में विलीन होकर बड़े क्षेत्रगत जनपदों को जन्म देने लगे। कृषि के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के शिल्पों का उदय भी उत्तरवैदिक—कालीन अर्थव्यवस्था की अन्य विशेषता थी। इनमें धातु शोधक बढ़ई, रथकार, कुम्हार आदि थे। अर्थात् एक इकाई में प्रायः दैनन्दिन आवश्यकताओं की पूर्ति स्थानीय स्तर पर ही हो जाती थी। किन्तु वर्ण व्यवस्था में बंटा होने के कारण समाज में उस लोकतांत्रिक कार्यपद्धति की कल्पना नहीं की जा सकती है, जो कि पंचायती राज का आदर्श है। हाँ यह अवश्य है कि स्थानीय स्तर पर उपलब्ध संसाधनों के दोहन से इकाई की प्रायः आवश्यकताओं को पूरा करना उसी प्रकार का मानवीय प्रबन्धन है, जैसा कि पंचायतों के अन्दर भी होता है। महाजनपदों के उदय के समय नगरों में कारीगर व श्रेष्ठि—दो वर्ग रहते थे। श्रेष्ठियों का सम्मान राजा भी करते थे। गांवों में

गहपतियों का भी वह स्थान था, जो श्रेष्ठियों का नगरों में। गांव की उर्वरा भूमि का बड़ा हिस्सा गहपति के पास ही होता था। कई गहपति सेना को वेतन भी देते थे। मंदक नामक गहपति ने बौद्ध धर्म की सेवा हेतु 1250 गांवों का दान किया था। महाजनपदों में से कई में गणराज्य पद्धति से शासन होता था। प्रांत जिलों में विभक्त थे, जिन्हें आहार या विषय कहते थे और जो संभवतः विषयपति के अधीन था। जिले का शासक स्थानिक होता था, जिसके अधीन गोप थे। एक गोप के अधीन 10 गांव होते थे। नगर का शासन 30 सदस्यों का एक मण्डल करता था। मण्डल समितियों में विभक्त था और प्रत्येक समिति के 5 सदस्य होते थे।

मौर्यों के साम्राज्यवाद की चपेट में आकर गणतंत्रों को क्षति और पराजय का सामना करना पड़ा था। किन्तु, अशोक के उपरान्त जब केन्द्रीय शक्ति का हास हुआ तब ये गणतंत्र पुनः स्वतंत्र होने लगे। मौर्य काल में प्रत्येक गांव अपने विषयों में पूर्णतः स्वतंत्र व स्वायत्तशासी था। यही कारण था कि देश का शासक बदलने के बाद भी गांवों के जनजीवन पर बहुत कम असर पड़ता था क्योंकि वस्तुतः उनका शासन उनके ही निकाय सभा द्वारा किया जाता था। किन्तु इस काल में किसी कार्यकारी परिषद का विकास न हो पाया था क्योंकि अर्थशास्त्र विश्वस्त रूप से कार्य करने वालों में ग्राम वृद्धों का उल्लेख करता है, किसी समिति या उपसमिति का नहीं।

गुप्तकाल में कुछ प्रांतों में ग्राम समितियों का विकास हो चुका था। मध्य भारत में इन्हें पंचमंडली और बिहार में ग्राम जनपद कहते थे। नालंदा में विभिन्न ग्राम जनपदों की अनेक मुद्रायें मिली। जिससे ज्ञात होता है कि ग्राम जनपदों द्वारा नालंदा के अधिकारियों से जो पत्र व्यवहार होता था सब पर उनकी मुहर लगी रहती थी।

स्पष्ट है कि बिहार में ग्राम जनपद नियमित संस्थाओं का रूप धारण कर चुकी थी जिनकी नियमित बैठकें हुआ करती थी अतीत से वर्तमान तक बुद्धकाल से लेकर मौर्यकालीन पंचायतों की गतिविधियों की झलक कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में भी है। गुप्तकाल में ग्राम समितियों का विकास हो चुका था। गुप्तकाल में ग्रामीण व्यवस्था 'ग्रामिक' नाम के मुखिया व्यक्ति के द्वारा संचालित होती थी।

उत्तर ही नहीं दक्षिण भारत में भी पंचायतों जैसी ग्रामीण इकाइयों से मिलती-जुलती व्यवस्था होने का पता चलता है। चोल राजाओं के शासक में कुरम नाम की ग्राम्य स्तर पर सबसे छोटी इकाई होती थी, जिसकी एक चुनी हुई सभा होती थी और यह सभा अपनी छोटी-छोटी उपसमितियों के द्वारा गांवों का प्रबन्ध करती थी। प्रतिहार, चालुक्य एवं पल्लव राजवंशों के शासन में भी ग्रामवासियों का उल्लेख है जिसका चुनाव गांव वाले करते थे।

चालुक्य और उनकी शासन व्यवस्था :

प्राचीन काल की भांति इस काल में भी ग्राम शासन की सबसे छोटी इकाई के रूप में था। अभिलेखों में अनेक अधिकारियों का उल्लेख मिलता था, जिनके द्वारा ही ग्राम्य शासन सम्पन्न होता था।¹

ग्रामुण्ड :

यह गांव का प्रमुख अधिकारी था। गांव की जनता तथा राजा की सरकार के बीच कड़ी का कार्य करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसी नियुक्ति केन्द्र द्वारा होती थी। संभवतः इसे ही ग्राम भोगिक कहा जाता था, यद्यपि अभिलेखों में इसके विषय में कोई स्पष्ट सूचना नहीं मिलती। कीर्तिवर्मन द्वितीय के शासन काल में दो ग्रामुण्ड अधिकारियों द्वारा एक-एक जिनालय बनवाया गया था।

ग्राम परिषद :

चालुक्य साम्राज्य के विस्तृत होने के कारण इसके स्थानीय शासन में कुछ परिवर्तन मिलते हैं। इसके समय में तीन प्रकार की ग्राम सभायें मिलती हैं। इन ग्राम सभाओं का विस्तृत उल्लेख अल्तेकर ने किया है। इनमें पहली तमिल, दूसरी कर्नाटक तथा तीसरे प्रकार की ग्राम सभा महाराष्ट्र एवं दक्षिण गुजरात प्रांत की थी। इन ग्राम सभाओं के सदस्यों को क्रमशः पेरुमक्कल, महाजन तथा महत्तर के नाम से जाना जाता था। अन्तिम दो प्रकारों में कोई विशेष अंतर नहीं था।

तमिल देश की ग्राम सभाओं में चुनाव पद्धति का विधान मिलता है। कर्नाटक में ग्राम सभा का संविधान तमिल देश से भिन्न था। तत्कालीन अभिलेखों में कर्नाटक में चुनाव पद्धति का कोई उल्लेख

नहीं मिलता, यद्यपि इन संस्थाओं के कार्यों व शक्तियों का उल्लेख अनेक बार मिलता है। तत्कालीन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कर्नाटक में तमिल देश की अपेक्षा अधिक लोकतंत्र विद्यमान था।

ग्राम परिषद के सदस्य:

कर्नाटक ग्राम परिषद के सदस्यों को महाजन के नाम से जाना जाता था। ये महाजन प्रत्येक परिवार के मुखिया हुआ करते थे। प्रायः महाजन ब्राह्मण हुआ करते थे जबकि महत्तरों के लिये यह बात लागू नहीं होती। महाराष्ट्र तथा दक्षिणी गुजरात की ग्राम सभाओं को संचालित करने वाले सदस्य को 'महत्तर' नाम से पुकारा जाता था। महत्तर नामक अधिकारी तमिल के पेरुमक्कल एवं कर्नाटक के 'महाजन' के समान था। महाराष्ट्र तथा दक्षिणी गुजरात के प्राप्त कपिपय अभिलेखों में इन महत्तरों के कार्य एवं शक्तियों के विषय में, उल्लेख मिलता है। 'महत्तर' नामक अधिकारी महाजनों की ही भांति ग्राम परिवार के मुखिया हुआ करते थे जिनकी प्रमाणिकता सलुकिक बुद्धवर्ष (670 ई0) के संजन पत्रों से सिद्ध हो जाती है जिसमें 'कुलमहत्तराधिकारिन' अर्थात् ग्राम कूट के बाद ग्राम परिवार के मुखिया के अधिकारी थे, का उल्लेख आया है।

जिसके आधार पर अल्तेकर महोदय ने इसे ऐसी 'ग्राम परिषद' बतलाया है, जो गांव के मुखिया (ग्रामकूट) की सहायता करती थी।

मिराशी ने 'महत्तर' शब्द का अर्थ 'ग्रामवृद्ध गणों से लगाया है।' इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि महाराष्ट्र तथा गुजरात के महत्तरों की स्थिति कर्नाटक के महाजन के समान थी। गुजरात व महाराष्ट्र के महत्तरों की संख्या के विषय में अभिलेखों से कोई जानकारी नहीं मिलती, जबकि तमिल एवं कर्नाटक में इनकी संख्याओं का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

चोलों का ग्राम शासन अत्यन्त सुव्यवस्थित तथा सुगठित था। स्थानीय शासन मुख्य रूप से ग्राम सभाओं, नगर सभाओं तथा नाडु सभाओं द्वारा संचालित होता था। इनमें ग्राम तथा नगर सभायें ही वास्तविक तथा मुख्य सभायें थीं। नाडु सभा तो प्रतिनिधि संस्था मात्र थी। ग्राम शासन मूलतः सभाओं द्वारा संचालित होता था। ग्राम का प्रत्येक वयस्क व्यक्ति इन सभाओं का सदस्य होता था।

चोल लेखों में दो प्रकार के गांवों का उल्लेख मिलता है – ऊर तथा ब्रह्मदेव। ऊर का शाब्दिक अर्थ है 'पुर' जो गांव तथा नगर दोनों का पर्याय है। अभिलेखों में 'ऊरम' शब्द मिलता है। ऊर की कार्यसमिति को आलुंगणम शासकगण कहा गया है। ऊर अपने प्रतिनिधियों से दस्तावेजों का प्रारूप तैयार करवा कर उसे लिपिबद्ध करवाती थी। जब राजा या सामंत ब्राह्मण को मंगलम देता था तो इसके लिये ग्राम समाज से जमीन खरीदता था। इससे ऊर के सदस्यों को नकद धन की प्राप्ति होती थी, जिसे वे स्वेच्छया व्यवसायों में लगा सकते थे।

सभा या महासभा :

शासकों द्वारा विद्वान ब्राह्मणों को दिये गये अग्रहार से बसने वाली बस्ती को ब्रह्मदेव कहा जाता था। इनकी सभा को ही सभा या महासभा कहते थे। ये पूर्णतः स्वायत्तशासी संस्था थी। महासभा के कार्यों का संपादन मुख्यतः इनकी समितियों के माध्यम से होता था, जिन्हें 'वारियम' कहा जाता था। विभिन्न सभाओं में वारियम की संख्या भिन्न-भिन्न होती थी। सभा के सदस्यों के लिये कुछ अर्हतायें भी थी जैसे कि वह 1/4 वेलि भूमि का स्वामी हो, आयु 35 वर्ष 70 वर्ष के मध्य हो, एक वेद एवं इसके भाष्य का ज्ञानी हो। वह या उसके निकट सम्बन्धी व्यभिचारी, लुटेरे, पापी आदि न हों।

मनोनीत व्यक्तियों में से 30 सदस्य कुडुम्बाओं (वार्डस) के लिये चुने जाते थे। यह चुनाव लाटरी सिस्टम से सम्पन्न होता था। चुनाव के दिन मन्दिर के हाल में समूचा गांव एकत्र होता था। मध्यस्थ के रूप में राजा का प्रतिनिधि होता था। सभी मतदाताओं को एक मतपत्र-ताड़पत्र (वोलै) दिया जाता था, जिस पर वह अपनी पसंद के प्रत्याशी का नाम लिख देता था। इस प्रकार समूचे मतपत्रों को एक बक्शे में रखकर उलट-पलट कर हिला दिया जाता था, जिसके बाद किसी बच्चे द्वारा अपेक्षित मतपत्रों को निकलवाया जाता था। जिस नाम का पत्र निकलता था, उसे ही चयनित मान लिया जाता था। इस विधि द्वारा चयनित 30 सदस्यों में से 12 सदस्यों (वयोवृद्ध, उद्यान व तड़ाग समितियों के अनुभवी) को वार्षिक समिति (सम्बतसरवारियम) के लिये 12 व्यक्तियों को उद्यान समिति के लिये, 6 को तड़ाग समिति के लिये चुना जाता था। इनका कार्यकाल 360 दिन का होता था। इसके बाद के शेष 5 दिनों में समिति अपना हिसाब देती थी, जिसका परीक्षण भी होता था। इस प्रकार एक वर्ष बाद पुनः मतदान होता था। इन मुख्य समितियों के अतिरिक्त अन्य समितियों का गठन किया जाता था। समिति के सदस्यों को वेरियप्पेरुमक्कल कहा जाता था।



सभा की बैठक प्रायः मन्दिर पर या किसी पेड़ के नीचे होती थी जिसकी पूर्व सूचना मुनादी द्वारा प्रत्येक गांववासी को दे दी जाती थी। प्रशासनिक तथा अन्य कार्यों के लिये सभा कार्य समिति का गठन करती थी। इनकी सहायता एवं लेखा रखने हेत, कुछ वैतनिक कर्मचारियों को भी नियोजित किया जाता था। सभा को इन कर्मचारियों को अपदस्थ करने का भी अधिकार था।

सभा के कार्य :

सभा एक प्रकार की गणतंत्रात्मक संस्था थी, जिसका गांव की जमीन पर पूरा अधिकार था और जो प्रशासन के मामले में भी पूर्णतया स्वतंत्र थी। गांव सभा की समस्त निधियों पर मालिकाना हक इसी का था। सभी देवालियों, धर्मशालाओं तथा चिकित्सालयों हेतु अक्षयनिधि की स्थापना के लिये सहायता प्रदान करती थी। सिंचाई आदि की भी व्यवस्था करती थी। यह नकद अथवा उपज के रूप में संग्रह करती थी तथा इसे शासकीय खजाने में जमा करती थी। यदि कोई कर नहीं दे पाता था, तो यह उसकी जमीन को नीलामी कर देती थी। सभा राजा से आज्ञा लिये बिना गांव में कर लगा सकती थी व विशेष परिस्थिति में कर माफ भी कर सकती थी। राजा तभी हस्तक्षेप करता था, जब दो सभाओं में विवाद की स्थिति आती थी। सभा स्थानीय मुकदमों का निपटारा भी करती थी। न्याय समिति को न्यायत्तर कहा जाता था और इसके निर्णय से असंतुष्ट होने पर मुकदमों को राजा के पास ले जा सकते थे। जुर्माने की राशि से लोककल्याण के कार्य किये जाते थे।

नगर: नगर मे मुख्यतः व्यापारी रहते थे, और इनके शासन संचालन में व्यापारियों की ही महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। प्रशासन से सम्बद्ध सदस्य दो वर्गों में वर्णित है – नगरत्तर एवं व्यापारिनगरोत्तम। इसके लिपिक तथा लेखाधिकारी क्रमशः नगर करणत्तार तथा नगरक्कण्णक्कु कहे जाते थे। नगर बाजार में बेची जाने वाली विविध वस्तुओं से कर की प्राप्ति होती है।

नाडु: नगरम् की भांति नाडु की भी अपनी सभायें थी। नाडु अपने नाम से दान देकर अक्षय निधियाँ ग्रहण करते थे। नीलकंठशास्त्री का मानना है कि नाडु की सभा में हर गांव के प्रतिनिधि रहते थे। नाडु का कार्य मुख्यतः भू राजस्व सम्बन्धी था। प्र० नीलकंठ शास्त्री के शब्दों में 'सक्षम नौकरशाही तथा सक्रिय स्थानीय

सभाओं, जो लोगों ने नागरिकता की संजीव भावना का संचार करती थी, के बीच प्रशासनिक दक्षता और स्थापित किया गया था, जो समग्र भारतीय राज्य में सबसे ऊँचा था।

सातवाहन और उनके उत्तराधिकारी के समय राज्य आहारों (प्रशासनिक प्रभागों) में बंटा था और प्रत्येक आहार एक मंत्री (अमात्य) के अधीन था। इसके नीचे गांव आते थे, जिनमें से प्रत्येक एक प्रधान (ग्रामिक) के अधीन था।

दक्कन में गांव के महाजनों के हमें अनेक उल्लेख मिलते हैं। 'गामुण्डो' (मुखियों) के नेतृत्व में ये महाजन स्थानीय ग्राम-सभा के प्रभारी थे। तमिल देश के अधिक स्वशासी नगरों की अपेक्षा यहां राजकीय अधिकारी ग्राम सभा के कार्य-संचालन के अधिक निकट संपर्क में रहते हैं। दौरे पर आने वाले राजकीय अधिकारियों हेतु भोजन, शयन व बैलागाड़ी आदि का प्रबन्ध ग्रामीणों को करना पड़ता था। कुछ निर्दिष्ट कार्यों हेतु बेगार भी करनी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त कुछ प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्षकर भी देने पड़ते थे।

ग्राम से ऊपर जो प्रशासनिक मंडल था, वह भिन्न-भिन्न स्थानों व समयों में आहर, राष्ट्र नोडुकोट्टम या विषय आदि नामों से पुकारा जाता था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि दक्षिण भारत में विभिन्न साम्राज्यों में स्थानीय स्वशासन अलग-अलग रूपों में उपस्थित था। यद्यपि इनमें चोल साम्राज्य की स्थानीय शासन व्यवस्था विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि इसकी कार्यप्रणाली व गठन अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित थी।

पुष्यभूतिवंश और कान्यकुब्ज साम्राज्य:

ग्राम:

प्रशासन की सबसे छोटी किन्तु अत्यधिक महत्वपूर्ण इकाई ग्राम होती थी। मधुवन अभिलेख का सोमकुंडा गांव ऐसी ही एक इकाई था। गांव का मुखिया और ग्रामशासन का प्रधान महन्तर कहलाता था।²उसके मुख्य कार्य थे ग्राम में शांति

रखना, राजस्व की वसूली तथा अन्य स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति। ग्राम की भूमि तथा अन्य संपत्तियों का कागज आदि रखने वाला अधिकारी ग्रामाक्षपटलिक होता था, जो ग्रामिक का सहयोग करता था।

सल्तनत काल में स्थानीय शासन:

प्रांतों को अनेक भागों में बांटा गया था जिसकी सबसे छोटी इकाई गांव थी। समस्त सल्तनत काल में गांव तुर्की शासन के प्रभाव से मुक्त रहे। इनकी व्यवस्था पूर्वानुसार ही बनी रही और खुत, मुकद्दम तथा चौधरी ही गांव के प्रशासन के लिये उत्तरदायी रहे। अलाउद्दीन द्वारा इनका राजस्व एकत्र करने के कार्य से मुक्त करने के बाद भी ये गांव में शांति व व्यवस्था बनाये रखने के लिये उत्तरदायी बने रहे। कई गांवों को मिलाकर एक परगना बनाया जाता था। कभी-कभी परगने को कस्बा कहते थे। इब्नबतूता के विवरण के आधार पर यह अनुमान लगता है कि एक परगने में प्राय एक सौ गांव हुआ करते थे।¹

वैसे इस आंकड़े को अनुमान के आधार पर ही निश्चित किया गया है।

13वीं शताब्दी में इक्ते से नीचे शासन व्यवस्था न थी किन्तु 14वीं शताब्दी में सल्तनत के विस्तार तथा हिन्दू सामंतों के दमन के कारण प्रान्तों को शिकों में बांट दिया गया। शिक का अध्यक्ष शिकदार होता था।¹ शिक से छोटी इकाई 'परगना' का विकास हुआ, जो संभवतः 100 गांवों में झगड़ों के निबटारे हेतु पंचायत हुआ करती थी। गांव के लोग एक राज्य की प्रजा के रूप में संगठित होते अपने मामलों की देखभाल करते और सुरक्षा, चौकीदारी, प्राथमिक शिक्षा तथा सफाई का प्रबन्ध करते थे। साधारण समय में सुल्तान गांवों के कामों में हस्तक्षेप नहीं करता था। प्रत्येक गांव में आज की भांति एक चौकीदार, एक लगान वसूल करने वाला तथा एक पटवारी होता था। इब्नबतूता के अनुसार, चौधरी एक सौ गांवों का प्रधान होता था। आगे चलकर यह परगना नामक प्रशासनिक इकाई का केन्द्र बिन्दु बना। ग्राम प्रशासन की सबसे छोटी इकाई थी। गांव की प्रशासनिक व्यवस्था लगभग वही रही, जो तुर्की आक्रमण से पहले थी। गांव के प्रमुख पदाधिकारी और कार्यकर्ता खोत, मुकद्दम (प्रधान) तथा पटवारी थे। प्रांतों तथा अन्य प्रशासनिक इकाइयों में न्याय व्यवस्था का स्वरूप केन्द्रीय ढांचे के अनुरूप था। प्रांतों में काजी और सद्र के न्यायालय थे। कोतवाल का कार्य कानून व्यवस्था बनाये रखना था। गांव के स्तर पर दीवानी व सम्पत्ति सम्बन्धी मामलों का निपटारा ग्राम पंचायत करती थी।

मुगलकालीन शासन—व्यवस्था में: इस काल में प्रांतों को सरकारों में विभक्त किया गया था। ये सरकारें पुनः परगनों या मोहल्लों में विभक्त की गयी थीं। परगनों के भी नीचे ग्राम पंचायतें होती थीं। सरकार या कार्यकारी



प्रमुख फौजदार होता था। इसके अतिरिक्त अमील, कोतवाल व काजी प्रमुख अधिकारी होते थे। शिकदार परगने का प्रमुख कार्यकारी होता था। एक परगने में अनेक गांव होते थे। मुगल प्रशासन में गांव को प्रशासनिक इकाई के रूप में मान्यता दी गयी थी।

मुगल शासक गांवको एक स्वायत्त संस्था मानते थे और गांव के स्थानीय प्रशासन व संस्था को संरक्षण प्रदान करते थे। गांव के जीवन व इसके संगठन को न तो सल्तनत काल में और न ही मुगलों के काल में छोड़ा गया बल्कि, मुगलकाल में गांव को प्रशासनिक तंत्र के अंतर्गत लेते हुये स्थानीय अपराधों हेतु ग्रामीण समुदाय को उत्तरदायी बना दिया गया।

ग्राम अधिकारी :

मुगलकाल में भी ग्राम अधिकारी का पद (जिन्हें खूत, मुकद्दम पर चौधरी कहा जाता था) अत्यधिक महत्वपूर्ण था और वही गांव और शासन के बीच कड़ी का कार्य करता था। उसी के माध्यम से ग्रामवासी मुगल शासन तक अपनी फरियाद पहुंचाते थे। कुछ क्षेत्रों में राय और रावल भी ग्राम प्रधान की भूमिका निभाते थे। ग्राम प्रधान का कार्य था आम निगरानी रखना, विवादों को निपटाना, पुलिस का दायित्व निभाना और गांव के राजस्व एकत्र करना।

पटवारी ग्राम प्रधान के बाद सबसे महत्वपूर्ण पदाधिकारी था, जो जोतबही का हिसाब रखता था। गांव के शासन के संदर्भ में यही सरकार का विश्वासपात्र था। अकबर के शासन काल में उसे राजस्व का एक प्रतिशत कमीशन के रूप में मिलता था। अंग्रेजों के समय में पटवारी सरकारी कर्मचारी होने लगा था। गांव का हरकारा पहरा निगरानी या वाच एण्ड वार्ड करता था।¹

मुस्लिम काल में ग्रामीण संस्थायें यद्यपि सुरक्षित रहीं परन्तु निरन्तर युद्धों के चलते इनकी जड़े कमजोर हो गयी। उनके अनेक शताब्दियों के शासन में पंचायतें टूट-टूट कर छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट गई और हर एक जाति की पंचायत अलग-अलग बन गयी। इन पंचायतों के सरपंच की चौधरी कहा जाता था। छोटी-छोटी जातियों में प्रत्येक व्यक्ति को पंच कहा जाता था और सरपंच या चौधरी उन सबसे बड़ा माना जाता था।



ब्रिटिश शासन काल में प्रशासन के सभी क्षेत्रों में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति ने भारत की प्राचीन व्यवस्था को गहरा आघात पहुंचाया।

इस काल में हमारा सामाजिक संगठन छिन्न-भिन्न हुआ। शक्तिशाली केन्द्रीय शासन की स्थापना हुई। नई तरह की अदालतें बनीं। जमींदारी व्यवस्था के सूत्रपात होने से पंचायतें पूर्णतया निष्प्रभावी हो गयीं।

ब्रिटिश काल में स्थानीय शासन:

ब्रिटिश शासन काल में निष्प्रभावी होने के बावजूद पंचायतें किसी ने किसी रूप में बनी रहीं। एलफिस्टन के अनुसार पंचायतें राज्य का छोटा रूप थीं। मिस्टर फूलर ने भी यह स्वीकार किया कि पंचायतें बुरे दिनों में भी यूनानी शहर की भांति अपना अस्तित्व बनाये रहीं। सर बर्डबुर्ड के अनुसार भारत में अनेक धार्मिक तथा राजनीतिक क्रांतियां हुईं, परन्तु ग्राम समुदाय प्रत्येक स्थिति में काम करता रहा। सर चार्ल्स मेटकाफ ने भी भारत की ग्रामीण पंचायतों को छोटे-छोटे गणराज्य के रूप में माना है। मेलकम ने तो यहां तक सुझाव दिया था कि अंग्रेजी न्याय व्यवस्था में पंचायतों को अधिक रूप में शामिल करना आवश्यक था। कुछ समय बाद भारत जैसे विशाल एवं ग्राम प्रधान देश में केन्द्रीकरण की जटिलता एवं अव्यावहारिकता के परिप्रेक्ष्य में 1870 में वायसराय लार्ड मेयो को स्थानीय स्वशासन के विकास को प्रारम्भ करके विकेन्द्रीकरण की नींव को एक सुविचारित दृष्टिकोण देना पड़ा। 1909 में शाही विकेन्द्रीकरण समिति का गठन किया गया। 1915 में इस समिति की संस्तुतियों को स्वीकार करते हुए 1920 में देश के अनेक प्रान्तों में पंचायतों को कानूनी स्तर पर पुर्नजन्म प्राप्त हुआ।¹ ईस्ट इण्डिया कंपनी के राजस्व प्रशासकों ने सर्वप्रथम ग्राम समुदाय के अध्ययन की ओर ध्यान केन्द्रित किया। चार्ल्स मेटकाफ पंचायत को सूक्ष्म गणराज्य की संज्ञा दे डाला। चार्ल्स मेटकाफ— “जहां कुछ भी नहीं टिकता, वहां वे टिके रहते हैं। राजवंश एक के बाद एक धाराशायी होते रहते हैं, एक क्रांति के बाद दूसरी क्रान्ति आती है। हिन्दू, पठान, मुगल, मराठा, सिक्ख व अंग्रेज सभी बारी-बारी से अपना स्वामित्व स्थापित करते हैं किन्तु ग्राम समाज ज्यों के त्यों बने रहते हैं। संकटकाल में वे अपने शस्त्र सज्जित करते हैं तथा अपनी किलेबन्दी करते हैं। उन ग्रामीण समाजों की जिनमें से प्रत्येक अपने में एक छोटा सा राज्य था। यह एकता ही वो चीज थी जिसने भारत की जनता को उन सभी क्रान्ति और परिवर्तनों के बीच सुरक्षित रखा जिनका समय-समय पर उसे शिकार होना पड़ता था। उसकी यह एकता बहुत अंशों में उनके सुख तथा उनकी स्वतंत्रता व आत्मनिर्भरता का कारण रही है।”

ब्रिटिश काल में 1687 में मद्रास नगर निगम, 1726 में बम्बई व कलकत्ता नगरपालिकाओं की स्थापना की गयी। 1870 में लार्ड मेयो द्वारा अपने प्रस्ताव के तहत प्रशासनिक कुशलता हेतु लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को अनिवार्य मानते हुये स्थानीय शासन संस्थाओं की स्थापना पर बल दिया। इसी प्रस्ताव में स्थानीय संस्थाओं को ब्रिटिश नमूने पर स्थापित किया गया। मद्रास में नगर परिषद की स्थापना आधुनिक भारत में स्थानीय शासन के युग की शुरुआत की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी। 1880 तक कलकत्ता, बम्बई तथा केन्द्रीय प्रांतों व उत्तर – पश्चिम प्रांतों के कुछ कस्बों तक ही स्थानीय प्रशासन हेतु संस्थायें विकसित हो सकीं।

इनके उद्देश्यों से सम्यक रूप से परिचित न होने के कारण बहुधा भारतीय इसका विरोध करते थे। 1870 में लार्ड मेयो का प्रसिद्ध प्रस्ताव पास हुआ। इस प्रस्ताव में मुख्यतः राजस्व के स्थानीय स्रोतों का दोहन करना व विकेन्द्रीकरण द्वारा प्रशासन को मितव्ययी बनाना था। किन्तु, गौण रूप से स्थानीय स्वशासन की संरचनाओं को विकसित करने की कल्पना भी की गयी थी। 1882 में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने टिप्पणी किया कि, “स्थानीय स्वशासन की रियायत राष्ट्रीय स्वशासन की बजाय, जैसा कि मैं आशा करने का साहस कता हूँ, साम्राज्य स्वशासन की प्रस्तावना है।” 1907 में भारत सरकार व प्रांतीय सरकार एवं उनकी अधीनस्थ सेवाओं के मध्य स्थित वित्तीय एवं प्रशासनिक सम्बन्धों की जांच के लिये नियुक्त विकेन्द्रीकरण आयोग का प्रतिवेदन (1909) महत्वपूर्ण होते हुये प्रभावी नहीं हो सका। प्रो० लास्की ने समिति व्यवस्था को पूरी व्यवस्था का मेहराब कहा है। इसके माध्यम से प्रतिनिधियों का स्थानीय ज्ञान एवं प्रभाव तथा अधिकारियों की तकनीकी योग्यता एवं साधन परस्पर संयुक्त कर दिये जाते हैं।

उ०प्र० व पंजाब में जिला बोर्डों हेतु प्रत्यक्ष निर्वाचन होता था किन्तु इस पर अधिकारी वर्ग का नियंत्रण इतना कठोर था कि स्थानीय उत्तरदायित्व जैसी बात बेमानी थी। अप्रैल 1915 में लार्ड हार्डिंग के प्रशासन के स्थानीय सरकार से सम्बन्धित सिद्धान्त को मान्यता तो दी गयी, किन्तु यह शब्दों तक ही सीमित थीं। 1916 में लार्ड चेम्सफोर्ड को स्थानीय सरकार के सम्बन्ध में अर्थात् सत्ता को नियंत्रण की विस्तृत शक्तियाँ सौंपी गयी थी। बजट नीति एवं वित्तीय मामलों में स्थानीय सत्ता को कुछ स्वायत्तता मिली इसके अन्तर्गत –

- मांटैग्यू चेम्सफोर्ड प्रतिवेदन अर्थात् भारत शासन अधिनियम, 1919 प्रकाशित हुआ।
- 1907 ई० के विकेन्द्रीकरण आयोग की सिफारिशों को स्वीकृत किया गया।



- स्वायत्त शासन संस्थाओं में निर्वाचित सदस्यों का बड़ा बहुमत होना चाहिये और इन सदस्यों के निर्वाचन हेतु अधिकाधिक लोगों को मताधिकार हो।
- मनोनयन अल्पसंख्यकों के अतिरिक्त केवल कुछ सरकारी कर्मियों का हो, जिससे कि स्थानीय संस्थायें उनके अनुभवों का लाभ उठा सकें। किन्तु इन मनोनीत सरकारी कर्मचारियों को मतदान का अधिकार नहीं होना चाहिये।
- स्वायत्त शासन संरचनाओं को महत्वपूर्ण अधिकार दिये जायें।
- स्वायत्त शासन संस्थाओं का अध्यक्ष यथासंभव गैर सरकारी तथा निर्वाचित हो।
- सरकारी हस्तक्षेप न्यूनतम हो।
- सिफारिश के आधार पर विशेष गांवों में ग्राम पंचायतें स्थापित की जाये।

परिणामस्वरूप प्रत्येक प्रांत में स्थानीय स्वायत्त शासन का एक विभाग खुला। 1935 के भारत शासन अधिनियम में प्रांतों में द्वैध शासन के स्थान पर प्रांतीय स्वायत्त शासन स्थापित किया गया। स्वायत्त शासन को राज्य सूची के विषय में रखा गया। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण इस अवधि में स्थानीय शासन हेतु कोई सार्थक कार्य नहीं हो सका।

1. पंचायतों की स्थिति : 2007-08 प्रथम खण्ड, विषय संबंधी रिपोर्ट पंचायती राज मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली पृ0 20
2. अल्लेकर, प्रो0 अनंत, सदाशिव- "प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, "विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी (2005)
3. पंचायतों की स्थिति : 2007-08 प्रथम खण्ड, विषय संबंधी रिपोर्ट पंचायती राज मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली पृ0 20
4. सं0 झा ब्रिजेन्द्र नारायण एवं श्रीमाली, कृष्ण मोहन- "प्राचीन भारत का इतिहास" - हिन्दी माध्यम क्रियान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली (1992) पृ0 122ए 123
5. कुमारी डॉ0 रेणुका, चालुक्य आरे उनकी शासन व्यवस्था, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी (1989) पृ0 99
6. आर के सी सुब्रह्मण्यम, " साउथ इण्डियन इसिक्रियशन्स, भाग -2 (प्रथम) संख्या 4
7. अल्लेकर, राष्ट्र कूट पृ0 197

8. मिराशी, वा० वि० कार्यस इन्सिक्लपस इण्डिकेट्स उटकमण्ड, भाग – 06, 1963 पृ० 37
9. शास्त्री, डॉ० के० एस० नीलकंठ (अनु० डॉ० वीरेन्द्र वर्मा), 6 दक्षिण भारत का इतिहास', विहार ग्रंथ अकादमी, पटना नवम् संस्करण (नवम्बर 2006) पृ० 103
10. पाठक डॉ० विशुद्वानन्द उत्तर भारत का राजीनितिक इतिहास उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ सातवां संस्करण, 2007प्र० 63
11. परुथी,डा० आर० के० सलतनतकालीन भारत में शासन व्यवस्था अर्जून पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली (2005)पृ०– 9
12. मिराशी, वा० वि० कार्यस इन्सिक्लपस इण्डिकेट्स उटकमण्ड, भाग – 06, 1963 पृ० 37
13. सं० वर्मा, हरिश्चन्द्र, मध्यकालीन भारत खण्ड दो (1540–1761) हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय 1993 पृ० 385
14. पंचायीत राज के कार्यकलाप एवं उपलब्धियाँ, वर्ष 1999–2000 पंचायती राज निदेशालय, उ०प्र० छटा तल लखनऊ पृ० 3
15. भारद्वाज, देवेन्द्र, पंचायीत राज प्रणाली, सदृणीकरण विकास एक मात्र विकल्प योजना जून 2002 पृ० 9
16. रिपोर्ट आफ द टैक्शेसन इन्क्वायरी कमीशन 1953–54 वो० तृतीय मैनेजर आफ पब्लिकेशन्स देहली 1995 पृ० 336

